जैन धर्म : उद्‌भव और उत्कर्ष

हिन्दू धर्म के प्रतिरोधी धर्म के रूप में जैन धर्म का भी विकास हुआ था। जैन धर्म के दर्शन और सिद्धांत हिन्दू धर्म से पूर्णतः पृथक हैं। इस धर्म का विकास छठी सदी ई० पू० में हुआ, जब इसके चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी ने अपने नए विचारों, सिद्धांतों और कार्यों से इसे नया जीवन-दान दिया। फलतः तत्कालीन समाज में जैन धर्म का समुचित प्रचार हुआ जिससे उसके अनुयायियों की संख्या बढ़ी। जैन धर्म में तीर्थंकरों का स्वरूप धर्मप्रचारक के रूप में तो अवश्य है, किन्तु इनका मान ईश्वर से कम नहीं है, यद्यपि जैन धर्म में ईश्वर का कोई अस्तित्त्व नहीं। जिसे साधक ने अद्‌भुत सिद्धि प्राप्त करके 'कैवल्य' प्राप्त किया 'तीर्थंकर' कहा गया।

जैन धर्मावलंबियों के अनुसार जैन धर्म की प्राचीनता प्रागैतिहासिक है। उनके अनुसार मोहनजोदड़ो से प्राप्त योगी की मूर्ति इससे आदि प्रवर्त्तक प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की है। यही नहीं, वेदों में उल्लिखित कतिपय नामों को जैन तीर्थंकरों के नामों के साथ जोड़ा जाता है। ऋग्वेद के एक स्थल पर 'ऋषभ' शब्द आया है[443],जिसे 'ऋषभदेव' के साथ समीकृत किया जाता है। यजुर्वेद में भी उल्लिखित है कि "ऋषभ धर्मप्रवर्तकों में श्रेष्ठ है।" अथर्ववेद और गोपथ ब्राह्मण में संकेतित स्वयंभू काश्यप का तादात्म्य ऋषभदेव से किया जाता है[444]। वैसे, ऋषभदेव का उल्लेख 'श्रीमद्‌भागवत' में भी हुआ है[445], जहाँ उनके उदात्त उपदेश और सिद्धांत संकलित हैं। किन्तु किसी ठोस प्रमाण के अभाव में इन कथनों को युक्तियुक्त नहीं माना जा सकता। यह सही है कि सभी दर्शनों के मूल तत्त्व वेदों और उपनिषदों में मिलते हैं जिसके आधार पर विद्वानों ने अपने-अपने विचारों और दार्शनिक सिद्धांतों का प्रचलन किया है।

443. ऋग्वेद, 1.896.
444. अथर्ववेद, 11.5.24-26: गोपथ ब्राह्मण, 2.8.
445. श्रीमद्‌भागवत, 5.28.

इसमें कोई संदेह नहीं कि जैन धर्म के प्रवर्तक ऋषभदेव थे, जो इस धर्म के प्रथम 'तीर्थंकर' माने गए। इस धर्म में कुल 24 तीर्थंकर हुए, जिन्होंने समय-समय पर जैन धर्म का प्रचार-प्रसार किया तथा अपने नए सिद्धांतों से लोगों को आकृष्ट किया। उनके नाम हैं- (1) ऋषभदेव (आदिनाथ), (2) अजितनाथ, (3) सम्भवनाथ, (4) अभिनन्दन, (5) सुमतिनाथ, (6) पद्मप्रभु, (7) सुपार्श्वनाथ, (8) चन्द्रप्रभु, (9) सुविधिनाथ, (10) शीतलनाथ, (11) श्रेयांसनाथ, (12) वासुपूज्य, (13) विमलनाथ, (14) अनन्तनाथ, (15) धर्मनाथ, (16) शान्तिनाथ, (17) कुन्थुनाथ, (18) अरनाथ, (19) मल्लिनाथ, (20) मुनिसुव्रत, (21) नेमिनाथ, (22) अरिष्टनेमि, (23) पार्श्वनाथ और (24) महावीर स्वामी। कुछ जैन लेखकों के अनुसार दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ का वर्णन यजुर्वेद में हुआ है तथा बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि का ऋग्वेद में[446]।

ऋषभदेव का प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ जब भारत के लोग अत्यन्त असभ्य और पिछड़े हुए थे। ज्ञान और विज्ञान का कोई प्रकाश नहीं था। ऋषभदेव ने अपने ज्ञान से लोगों को आलोकित किया तथा सन्मार्ग और सदाचरण का दिग्दर्शन कराया। वे शासक होते हुए भी जनसाधारण के हित के लिए जागरुक रहते थे। उनका जन्म इक्ष्वाकु भूमि (अयोध्या) में हुआ था। दीर्घ काल तक शासन करने के उपरान्त उन्होंने अपने पुत्र भरत को राज्य सौंपकर स्वयं सन्यास ग्रहण कर लिया था। तत्पश्चात् वे तपस्या के लिए निकल पड़े। अट्ठावय (कैलाश) पर्वत पर आकर उन्होंने तपश्चर्या प्रारम्भ की तथा तपस्या करते हुए उन्होंने अपना प्राण त्याग दिया[447]। वे जैन धर्म के पहले महापुरूष धर्मोपदेशक थे, जिन्हें प्रथम जैन तीर्थंकर होने का गौरव प्राप्त हुआ था। वस्तुतः जैन धर्म के प्रवर्त्तक अथवा संस्थापक ऋषभदेव ही थे, जिन्होंने सर्वप्रथम शुद्ध, आचरण, पावन चरित्र और पवित्र मन पर बल दिया। वे कब और किस समय हुए यह कहना कठिन है। वस्तुतः किसी ठोस प्रमाण के अभाव में यह विवाद का विषय है तथा उनके बारे में जो भी मत व्यक्त किए गये है, मात्र अनुमान के आधार पर।

जैन धर्म के व्यवस्थित और सुनियोजित ज्ञान-तत्त्व, चिन्तन-पक्ष और दर्शन-तत्त्व का स्वरूप ऐतिहासिक पुरूष तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के निर्देशन में पल्लवित और पुष्पित हुआ। उनका जन्म वाराणसी में महावीर स्वामी से 250 वर्ष पहले 850 ई० पू० में हुआ था। काशी के शासक इक्ष्वाकुवंशी अश्वसेन उनके पिता थे तथा महारानी वामा उनकी माता। उनकी पत्नी का नाम प्रभावती था जो कुशस्थल देश की राजकुमारी थी। 30वर्ष की आयु के बाद उन्होंने गृह-त्याग कर अपना समय वैराग्य और तपश्चर्या में लगाया। सम्मेय पर्वत पर समाधिस्थ होकर कठिन तपस्या करने के उपरान्त उन्हें 84वें दिन 'केवल' ज्ञान प्राप्त हुआ[448]। उसके बाद से उन्होंने अपना सत्तर वर्ष का शेष जीवन धर्म-प्रचार में लगाया तथा अपने उपदेशों से स्त्री-पुरुष सभी लोगों को जीवन और जगत् की वास्तविकता समझायी। महावीर स्वामी की मृत्यु से लगभग

---

446. ऋग्वेद, 1.180.10:10.178.1.
447. कल्पसूत्र, 7.206-228.
448. वही, 6.144.69.

ढाई सौ वर्ष पूर्व पार्श्वनाथ को निर्वाण प्राप्त हुआ। अतः साकेत, राजगृह, अहिच्छत्र, हस्तिनापुर, कौशाम्बी, श्रावस्ती आदि विभिन्न नगरों का भ्रमण कर उन्होंने अपने धर्मोपदेश से निस्पृह और सुधी लोगों को अपना अनुयायी बनाया जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों थे। जैन अनुश्रुतियों में पार्श्वनाथ के अनेकानेक अनुयायियों का पता चलता है। महावीर स्वामी के माता-पिता भी उन्हीं के धर्म-सिद्धान्तों के अनयायी थे। सांसारिक बंधनों और मोह-स्पृहाओं से अलग होकर उनके निर्देशों पर जो चलते थे, वे अनुयायी 'निर्ग्रन्थ' कहे जाते थे। जैन ग्रन्थों में उन्हें 'पुरिसादानीय' (महान् पुरूष), धर्म 'तीर्थंकर' तथा 'जिन' (विजेता) कहा गया है।

उनके सिद्धांतों में हिन्दू धर्म के देववाद, कर्मकाण्ड, हिसांत्मक यज्ञ, वर्ग और जाति-व्यवस्था आदि का विरोध तथा अहिंसा और अभेद का समर्थन है। उन्होंने कायक्लेश तपश्चर्या से मोक्ष' प्राप्ति का मार्ग-दर्शन किया। उनके अनुयायी चार व्रतों (चतुर्याम धर्म) का अनुपालन करते थे जो कालान्तर में जैन धर्म के प्रधान आधार बने। वे चार व्रत थे– (1) अहिंसा करना ('पाणाइवाय-ओ-वर्मण'), (2) सत्य बोलना (मुसावाय-ओ-वर्मण), (3) चोरी न करना (अदिण्ण-दाण-ओ-वर्मण) और (4) धन न इकट्ठा करना (बहिवद्णा-ओ-वर्मण)।

जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान महावीर के नेतृत्व में इस धर्म का अभूतपूर्व उत्कर्ष हुआ। उन्होंने अपनी अद्भुत प्रतिभा और बुद्धि से पार्श्वनाथ द्वारा प्रचारित सिद्धांतों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करके उन्हें संवर्धित किया तथा उनके प्रचार-प्रसार में उन्होंने अविस्मरणीय योग प्रदान किया। कल्पसूत्र से विदित होता है कि महावीर स्वामी ने पार्श्वनाथ को 'पुरिसादानीय' (परम पुरुष) कहा था तथा उनके निर्देशों को गृहीत किया था। महावीर स्वामी के पूर्व जैन धर्म केवल मगध और अंग तक ही सीमित था, किन्तु उनके प्रादुर्भाव और तत्पश्चात् किए गए प्रयास से यह धर्म भारत के विभिन्न स्थानों में भी फैला। यही नहीं, लंका के शासक ने निर्ग्रन्थों के लिए अनुराधपुर में एक निर्ग्रन्थ संघ (आश्रम) का निमार्ण करवाया था और जब अशोक के पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ सिंघल (लंका) गई तो उन्होंने वहाँ पार्श्वनाथ द्वारा प्रचारित निर्ग्रन्थ संघ को देखा, जहाँ निर्ग्रन्थ लोग निवास करते थे[449]। वस्तुतः महावीर और बुद्ध उनके विचारों से प्रभावित थे। पार्श्वनाथ के समय में ही उनके अनुयायी उनके धर्म 'जिनकल्प' का अनुगमन करते थे और 'समाधि' लगाते थे तथा समाधि के पाँच तत्त्वों का संघ के बाहर और भीतर अनुगमन करते थे। वे पाँच तत्त्व थे तपस, सत्य, सूत्र, एकत्व और बल। मज्झिम निकाय (12 पृ० 48-50) में महात्मा बुद्ध अपने तापस जीवन के विषय में कहते हैं कि "मैं निर्वस्त्र रहता था। अपना भोजन अपने हाथों में लेता था। अपने पास लाए गए भोजन मैं ग्रहण नहीं करता था और न तो अपनी दृष्टि उसपर डालता था। साथ ही, आमंत्रित किए जाने पर भी भोजन ग्रहण करने के लिए नहीं जाता था। मैंने अपने सिर का बाल मुड़वा दिया। पानी की एक बूँद तक के लिए दया प्रदर्शित की तथा मैंने यह ध्यान रखा कि छोटा से छोटा न दिखनेवाली प्राणी मेरे द्वारा नहीं मारा जाना चाहिए। इसके लिए

---

449. महावंश, 10.97.

मैं बहुत अधिक सजग रहता था। यहाँ तक कि सर्दी में मैं बीहड़ में निर्वस्त्र रहता था और अपने शरीर को कभी भी गरम नहीं रखता था। मैं सर्वदा मुनि की भाँति ध्यानस्थ रहता था।" बुद्ध के इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि गौतमबुद्ध पर पार्श्वनाथ के चिन्तन और मत का प्रभाव था।

भद्रबाहुकृत 'कल्पसूत्र' से विदित होता है कि पार्श्वनाथ का अन्तकाल बंगाल स्थित 'पारसनाथ' नामक पहाड़ी के 'सम्मेत-शिखर' पर हुआ था। पश्चिमी बंगाल तथा बिहार के कतिपय स्थानों के लोग पार्श्व के मतों के अनुयायी रहे हैं तथा बाँकुड़ा, चौबीस परगना और राँची के कुछ स्थानों के लोग आज भी पार्श्वनाथ के अनूयायी मगध प्रदेश में रहा करते थे तथा उस समय भी जैन धर्म अत्यधिक जनप्रिय था। 'कल्पसूत्र' में उल्लिखित है कि पार्श्वनाथ के भिक्षु अनूयायी 16,000 थे, भिक्षुणियाँ 38,000, श्रावक 1,64,000 तथा श्रावकी 3,27,000। इनके अतिरिक्त अनेक साधारण लोग भी पार्श्वनाथ के मत के प्रति आस्था रखते थे।

वर्धमान महावीर का जन्म वैशाली के निकट वज्जिसंघ के कुण्डग्रामवासी विख्यात ज्ञातृक क्षत्रिय सरदार सिद्धार्थ के यहाँ 599 ई० पू० में हुआ था। उनकी माता नाम त्रिशला था, जो लिच्छवि शासक चेटक की बहन थी। चेटक की पुत्री का विवाह मगधाधिपति बिम्बिसार से हुआ था, जिससे अजातशत्रु का जन्म हुआ था। अतः वर्धमान महावीर का सम्बन्ध उस काल के शक्तिशाली राजवंशों से था जिनका उत्तर भारत की राजनीति में महत्त्वपूर्ण स्थान था। उनकी पत्नी का नाम यशोदा था जो राजा समरवती की पुत्री थीं। उससे प्रियदर्शना नामक एक पुत्री उत्पन्न हुई थी। उस पुत्री का विवाह जमालि नामक क्षत्रिय से हुआ था, जो बाद में महावीर स्वामी का अनुयायी बन गया था। उनके माता- पिता पार्श्वनाथ के श्रमण धर्म के अनुयायी थे जिसका प्रभाव बाल्यावस्था से वर्धमान पर पड़ा। उन्होंने तीस वर्ष की अवस्था में अपने पिता के मृत्युपरान्त गृह का त्याग करके निवृत्ति-मार्ग ग्रहण किया[450]। सर्वप्रथम उन्होंने निर्ग्रन्थों के तापस जीवन का अनुगमन किया।

महावीर स्वामी परिव्राजक बनकर सच्चे ज्ञान की खोज में इतस्ततः भ्रमण करने लगे। तेरह महीने तक तो वे वस्त्र धारण करते हुए सर्वत्र घूमते रहे उसके बाद वे निर्वस्त्र होकर घूमने लगे[451]। इस तरह उन्होंने अपना बारह वर्षों का जीवन नग्नावस्था में अत्यन्त कष्ट और क्लेशपूर्वक व्यतीत किया, जिसमें उन्होंने अपने शरीर की पूर्णतः उपेक्षा की। न उन्होंने अपने उदरपोषण का ध्यान रखा और न जल से प्यास बुझाने का। संसार से निर्लिप्त और बंधन-हीन होकर उन्होंने अपने को प्रकृत रूप में छोड़ दिया। छह वर्षों तक उनके साथ मस्करीपुत्र गोशाल भी तपश्चर्या करते रहे किन्तु बाद में मत-वैभिन्य होने पर वर्धमान से गोशाल अलग हो गए और उन्होंने स्वतन्त्र रूप से आजीवक नामक मत का उन्नयन किया। तपश्चर्या के तेरहवें वर्ष जम्भियगाम (जृम्भिका) के निकट उज्जुवालिया (ऋजुपालिका) नदी के तट पर उन्हें 'कैवल्य' (ज्ञान) की प्राप्ति हुई। ज्ञान की प्राप्ति के कारण उन्हें 'केवलिन' कहा गया, इन्द्रियों को जीत लेने के कारण 'जिन' तथा योग्यतम् होने के कारण 'अर्हत्'। उनका यह अद्भुत

---

450. कल्पसूत्र, 110.
451. आचारांग, 1.8.2.

पराक्रम था, इसलिए वे 'महावीर के नाम से विख्यात हुए। 'केवल-ज्ञान' प्राप्त करने के पश्चात् महावीर स्वामी अपने उपदेशों के प्रचार में लगे। आचारांग सूत्र (2.15.25) से यह ज्ञात होता है कि महावीर स्वामी ने अपने भ्रमण-काल में अनेक कष्ट उठाये। पश्चिमी बंगाल के बज्जभूमि और सुब्रधभूमि के लोगों ने उन्हें बहुत दुःख दिया। कतिपय लोग उन्हें पागल समझकर ईंट-डंडे से मारते थे। कुछ लोग उनके पीछे कुत्ते दौड़ाते थे। कोई भी उन्हें बचाने के लिए आगे नहीं आता था। किन्तु वर्धमान महावीर इन सब पर बिना ध्यान दिये भ्रमण करते हुए अपने मत का प्रचार किया करते थे। उनका विचार था कि जीवन सभी रूपों में है तथा वनस्पति से मनुष्य तक सभी प्राणी एक जन्म-जरा-मरण के क्रम में आबद्ध हैं साथ ही मनुष्य अपने प्रयास से इस क्रम से निकल सकता है।

महावीर स्वामी अपने आकर्षक व्यक्तित्व और अद्‌भुत ज्ञान से लोगों को प्रभावित कर लेते थे। प्राकृतिक विज्ञान के विषय में उनका महत्त्वपूर्ण ज्ञान था। वायु, अग्नि, वनस्पति, जीव और परमाणु जैसे विषयों पर उनके सुस्पष्ट और सुस्थ विचार थे। जीवशास्त्र में उनका प्रवेश था। गणित और ज्यामिति में वे पारंगत थे। उनके वक्तव्यों में इन सब विषयों के सन्दर्भ बराबर आया करते थे।

इस कार्य में उनके राजपरिवारों से सम्बन्धित नातेदारों ने विशेष सहयोग प्रदान किया। लिच्छवि-शासक चेटक महावीर का भक्त बन गया था। मगध-शासक अजातशत्रु भी महावीर के उपदेशों का श्रवणकर्ता था। चम्पा का शासक दधिवाहन उनका श्रद्धालु भक्त था, जिसकी पुत्री चन्दना उनकी प्रथम भिक्षुणी बनी थी। पाटलिपुत्र का राजा उदायी उनका प्रशंसक था। काशी और कोसल के अठारह गणराज्य उनके अनुगामी थे। ब्राह्मणकुंड-नरेश ऋषभदत्त उनसे प्रभावित थे। अवन्तीपति चण्डप्रद्योत की उनके प्रति आस्था थी। कम्पिलपुर के राजा सम्यति उनके अनुवर्ती थे। काशीनरेश शंख उनके मतालम्बी थे। राज-परिवारों के अतिरिक्त साधारण वर्ण के लोग भी उनकी शिक्षाओं और उपदेशों के प्रति आकृष्ट हुए। इस प्रकार घूम-घूमकर लोगों को उपदेश देते हुए महावीर स्वामी का 72 वर्ष की आयु में बिहार स्थित राजगृह के समीप पावा में 527 ई० पू० में निर्वाण हुआ। उन्होंने 'चतुर्विध संघ' का स्थापन किया तथा वे 'तीर्थंकर' की उपाधि से विभूषित हुए। अंग, बंग, मगध, विदेह, काशी, कोसल, वत्स, अवन्ती, पंचाल, सिंधु और सौवीर आदि प्रदेशों में घूमकर उन्होंने अपने मत का प्रचार किया।

महावीर स्वामी के ग्यारह प्रधान शिष्य थे, जिन्हें 'गणधर' कहा जाता है। कल्पसूत्र, आवश्यक निर्मुक्ति तथा आवश्यक चूर्णि से उन गणधरों के नामों का पता चलता है। जो इस प्रकार हैं– इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधमन्, मण्डित, मोरियपुत्र, अंकपित, अचल-भ्राता, मेतार्य तथा प्रभास। इनमें अग्निभूति, इन्द्रभूति औार वायुभूति तीनों भाई थे। ये गणधर प्रारम्भ में 'ब्राह्मण धर्म' के अनुयायी थे। ये अपने अधिकांश अनुयायियों के साथ महावीर के पास शास्त्रार्थ के लिए आए, किन्तु उनके समस्त प्रश्नों और शंकाओं का समाधान महावीर ने तुरन्त कर दिया। फलस्वरूप महावीर की मेधा से प्रभावित होकर ये ब्राह्मण उनके शिष्य बन गए। महावीर ने इन विद्वानों को अपने धर्म में दीक्षित करने के उपरान्त इन्हें 'गणधर' की उपाधि

से विभूषित किया जिसका अर्थ है, प्रधान अनुयायी। कालान्तर में ये गणधर द्वादश 'अंगों' और 'चतुर्दश पूर्वों' में पारंगत हो गए। इन्द्रभूति और सूधर्मन को छोड़कर सभी गणधरों की मृत्यु महावीर के जीवन-काल में ही हो गई। महावीर के मरणोपरान्त सुधर्मन् जैन संघ के अध्यक्ष (प्रधान) हुए। बाद में सुधर्मन् ने अपने शिष्य जम्बु को जैन संघ का संचालन सौंपकर मोक्ष ग्रहण किया।

पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी के धर्मोपदेश में भिन्नता थी। महावीर स्वामी पार्श्वनाथ के चार व्रतों के अतिरिक्त पाँचवें व्रत के भी पक्षपाती थे, इस प्रकार उन्होंने पंचमहाव्रत का प्रतिपादन किया था। पार्श्व के अनुसार जैन भिक्षु वस्त्र धारण कर सकते थे किन्तु महावीर स्वामी के अनुसार उन्हें नग्न रूप में निर्वस्त्र रहना था। इस प्रकार जैन धर्मावलंबियों और साधुओं में दो वर्ग हो गए, एक वस्त्र धारण करनेवाले और दूसरे निर्वस्त्र रहनेवाले। पहले वर्ग के लोग पार्श्वनाथ के अनुयायी हुए और दूसरे वर्ग के लोग महावीर स्वामी के। किन्तु आधारतः उनके मूल सिद्धांतों में कोई भेद नहीं था। उनके तात्विक विचार समान ही थे। ये दोनों वर्ग कालान्तर में क्रमशः 'श्वेताम्बर' और 'दिगम्बर' कहे गये।

जैन धर्म का सिद्धान्त और ज्ञान-तत्त्व

जैन धर्म के सिद्धान्तों में निवृत्ति मार्ग का प्रधान स्थान है, जिसके माध्यम से व्यक्ति जगत् की नाना प्रकार की व्याधियों और तृष्णाओं से विमुक्त हो जाता है। प्रवृत्ति और वांछा में लिप्त व्यक्ति सुख और समृद्धि के लिए सर्वदा भोग और तृष्णा में व्यस्त रहता है। सांसारिक वस्तुओं को अधिकाधिक प्राप्त करने से भी उसे संतोष नहीं मिलता। उसकी वांछा और अभिलाषा तीव्र होती जाती है। अतः जगत् के समस्त सुख दुःख के कारण हैं। प्रवृत्ति का त्याग करके निवृत्ति का अनुपालन ही वास्तविक और स्थायी सुख का मूल है[452]। परिव्राजक की स्थिति में ही शान्ति प्राप्त होती है, जब मनुष्य समस्त सुखोपभोग से अलग होकर निवृत्ति की ओर बढ़ता है।

जैन ज्ञान-तत्त्व के अन्तर्गत कर्म का सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है। सत् और असत् कर्म से ही बन्धन और मुक्ति होती है। संसार में कर्म ही प्रधान है। ईश्वर का कोई निर्देश नहीं है, न तो वह जगत् स्त्रस्टा ही है। पाप और पुण्य मनुष्य के कर्मों से होते हैं, ईश्वर से नहीं। इस प्रकार जैन धर्म के अन्तर्गत ईश्वर को न मानकर मनुष्य के कर्म को ही प्रधानता दी गई है। उन्हें अपने कर्मों का स्वयं ही उत्तरदायी माना गया है। उसके सुख दुःख उसके कर्म पर ही निर्भर करते हैं जिसमें उसे मुक्ति नहीं मिल पाती[453]। उसे अपने कर्मों के अनुसार ही फल प्राप्त होते हैं। प्रायः आठ कर्मों के कारण जीव आबद्ध रहता है– (1) ज्ञानावरण (आत्मा के ज्ञान को ढकनेवाला) (2) दर्शनावरण (आत्मा की दर्शन शक्ति को आवृत करनेवाला), (3) वेदना (सुख दुःख के ज्ञान को अवरुद्ध करनेवाला) (4) मोह (जीव को मोह के आवरण से ढकनेवाला)

452. उत्तराध्ययन, 13.6.17, 14.13, 13.26, जैन सूत्र, 2.301-4.
453. जैन सूत्र, 2.301.

(5) आयु-कर्म (मनुष्य की आयु को निश्चित करनेवाला कर्म) (6) नाम -कर्म (व्यक्ति की परिस्थिति, गति, शरीर आदि को निर्धारित करनेवाले कर्म (7) गोत्र-कर्म (मनुष्य की ऊँचाई -नीचाई के स्तर को निश्चित करनेवाले कर्म) तथा (8) अन्तराय कर्म (सत्कर्मों में विघ्न डालनेवाले कर्म)[454]। अतः समस्त प्राणी अपने कर्मों के अनुसार पृथक -पृथक योनि में जन्म लेते और संसार के आवागमन के जाल में फँसे रहते हैं तथा अपने कर्मों के फल भोगे बिना मनुष्य के लिए मुक्ति सम्भव नहीं है[455]। कर्म-फल भोगने के लिए ही उसका पुनर्जन्म होता है। अतः कर्म-फल से मुक्त होना ही 'निर्वाण' प्राप्त करना है। 'निर्वाण' ही 'मोक्ष' है जो कर्मफल की समाप्ति से ही संभव है।

जैन धर्म की आचार-मीमांसा से सम्बद्ध 'त्रिरत्न' की व्याख्या की गई है, जो जीव को कर्मफल से मुक्ति दिलाने के लिए आवश्यक माध्यम माना गया। कर्मों से छुटकारा दिलाकर मोक्ष की ओर प्रवृत्त करनेवाले तत्त्व ही 'त्रिरत्न' कहे गए– (1) सम्यक् श्रद्धा, (2) सम्यक् ज्ञान और (3) सम्यक् चरित्र (आचरण) नामक त्रिविध साधन ही 'त्रिरत्न' हैं। सत् में विश्वास और तदनुरूप आचरण ही सम्यक् श्रद्धा है। सत् का ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है। सच्चरित्रता और सदाचरण का पालन करते हुए जब जीव क्लेशों और अशोभन कर्मों से नितान्त रहित हो जाता है वह सम्यक् चरित्र कहा जाता है। अतः त्रिरत्न के पालन कर्म फल से विमुक्ति संभव मानी गई।

समस्त संसार को असंख्य जीवों का वास अथवा आगार माना गया है तथा समस्त पदार्थों को सचेतन और आत्मयुक्त। प्रत्येक जीव में आत्मा और भौतिक तत्त्व, दो अंश होते हैं। जब आत्मा को भौतिक तत्त्व से मुक्ति मिल जाती है तब 'निर्वाण' होता है, जो जीव का अभीष्ट है। आत्मा में विस्तारशीलता और सर्वव्यापकता है। वह अनन्त है, असीम है और सत् है। भौतिक तत्त्व 'असत्' है बंधन है, जिसके कारण जीव को आत्मा के सद्रूप का दर्शन नहीं हो पाता। वह भौतिक तत्त्वों से आच्छन्न रहता है, जो असत् होते हैं। इस प्रकार 'सत्' पर 'असत' का प्रभाव रहता है। जब 'सत्' के प्रति सच्ची निष्ठा और बुद्धि होती है तब 'असत्' का प्रभाव कम हो जाता है। इसके साथ ही इन्द्रियों के प्रभाव से रहित होकर, अनासक्त और उदासीन भाव से रहना ही सम्यक् स्थिति है, जिससे जीव को न क्लेश का अनुभव होता है, न प्रसन्नता का।

सम्यक् श्रद्धा (दर्शन) अथवा सही विश्वास के आठ अंग उल्लिखित हैं: (1) निश्शंकित (संदेह से दूर), (2) निष्कांक्षित (सांसारिक सुख की अभिलाषा को समाप्त करना) (3) निर्विचिकित्सिक (काया के मोह-विराग से दूर रहना) (4) अमूढ़ दृष्टि (भ्रामक मार्ग की ओर प्रवृत्त न होना), (5) उपगूहन (अधूरे विश्वासों से विचलित न होना), (6) स्थितिकरण (सही विश्वासों पर टिके रहना), (7) वात्सल्य (सबके लिए प्रेम-भाव रखना) और (8) प्रभावना (जैन सिद्धान्त की श्रेष्ठता प्रदर्शित करना)। इसके लिए तीन प्रकार की अज्ञानता (मूर्खता) से दूर रहने के लिए निर्दिष्ट किया गया– (1) लोकमूढ़ (उदाहरणार्थ, नदी में स्नान करने से पापमुक्ति का अन्धविश्वास), (2) देवमूढ़ (जैसे देवताओं

454. उत्तराध्ययन, 33.1.2.
455. सूत्रकृतांग, 1, 2.1.4.

की पूजा करने से पुण्य प्राप्त करने की अन्ध-आशा) तथा (3) पाषंडमूढ़ (उदारणार्थ, साधु-संतों के धोखे में आना)। पूजा, कुल जाति, बल ऋद्धि, तप शरीर के अहंकार आदि से दूर रहने के लिए कहा गया।

जैन सिद्धांत में सम्यक् ज्ञान के पाँच प्रकार बताए गए हैं– मति (इन्द्रियों द्वारा अनुभूत) (2) अवधि (कहीं रखी हुई किसी भी वस्तु का अतिमानवी और दिव्य ज्ञान) (3) श्रुति (सुनकर प्राप्त ज्ञान) (4) मनःपर्याय (दूसरे के हृदय और मस्तिष्क की बातों का बोध होने का ज्ञान) तथा (5) केवल (पूर्ण ज्ञान, जो परिव्राजकों ओर निर्ग्रन्थों को प्राप्त है)। आत्मा का भौतिक तत्त्वों से उन्मुक्त होकर 'सत' का आलोक प्राप्त करना ही सही ज्ञान है। सम्यक् श्रद्धा की तरह इसके भी आठ अंग निर्दिष्ट किये गये: (1) ग्रंथ (शब्दों का सही प्रयोग) (2) अर्थ (शब्दों के अर्थ का सही परिज्ञान) (3) उभय (शब्द और अर्थ दोनों का ठीक ज्ञान) (4) काल (समय के चग्र और क्रम का परिज्ञान) (5) विनय (नम्रता) (6) सोपधान (व्यवहार की उचित स्थिति) (7) बहुमान (रुचि और उत्साह) और (8) अनिन्हव (ज्ञान को न छिपाना)।

जैन धर्म में तत्त्व ज्ञान को पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण से देखा जाता है, क्योंकि प्रत्येक काल में या प्रत्येक दशा में जीव का ज्ञान एक नहीं हो सकता, वह भिन्न-भिन्न होता है। अतः जैन सिद्धांत में तत्त्वों के ज्ञान के सात प्रकार निर्दिष्ट हैं– (1) है (स्यात अस्ति = कथंचित् है), (2) नहीं है (स्यान्नास्ति=कथंचित् नहीं है), (3) है और नहीं हैं (स्यादस्ति च नास्ति च = कथंचित् है और कंथचित नहीं है), (4) कहा नहीं जा सकता (स्याद् अवक्तव्यम्=कथंचित् वर्णनातीत है), (5) है किंतु कहा नहीं जा सकता (स्यादस्ति च अवक्तव्यं च), (6) नहीं है और कहा नहीं जा सकता (स्यान्नास्ति च अवक्तव्यं) और (7) है नहीं और कहा जा सकता है (स्यादस्ति च नास्ति च वक्तव्य च)। किसी भी पदार्थ के विषय में ये सातों ज्ञान-तत्त्व (भंग) यथार्थ हैं तथा प्रत्येक पदार्थ को अनेकातिक सिद्ध करते हैं। जैन-धर्म में इस दर्शन को स्याद्वाद या अनेकांतवाद (सप्तभंगी नय) कहा जाता है। प्रत्येक पदार्थ की सापेक्ष सत्ता होती है, जिसे, 'सत्' भी कहा जा सकता है, किन्तु यही उसका एकांत रूप नहीं होता, क्योंकि किसी के कारण उसे 'असत्' भी मानना पड़ सकता है। इसलिए कोई भी पदार्थ एकांततः सत्य नहीं है। उसमें संदेश का भाव विद्यमान है: न वह सर्वथा 'सत्' है न 'असत'। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न लोगों की आत्माएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। किंतु अगर देखा जाय तो पदार्थों और व्यक्तियों में भिन्नता आती है। एक ओर तो जैन धर्म का तर्क यह है कि भौतिक तत्त्व को समाप्त कर देना चाहिए जिससे आत्मा-तत्त्व मुखरित हो और सत् का परिज्ञान हो तथा दूसरी ओर वह आत्मा के विविध रूपों को मानता है। ऐसी स्थिति में अनेकात्मवाद का सिद्धांत त्रुटिरहित नहीं है। उससे भ्रम उत्पन्न होता है।

जैन दार्शनिकों के अनुसार इस ससार का कोई भी पदार्थ नष्ट नहीं होता। सभी पदार्थ शाश्वत हैं। नष्ट प्रतीत होने का कारण यह है कि कभी- कभी उनके रूप परिवर्तित हो जाते हैं, किन्तु उनका मूलतः विनाश नहीं होता। उदाहरणार्थ स्वर्ण को लिया जा सकता है। स्वर्ण घट को तोड़कर मुकुट का निर्माण किया जा सकता है। मुकुट की उत्पत्ति और घट का नाश दोनों स्थितियों में स्वर्ण की स्थिति स्पष्ट है। इससे स्वर्ण-मुकुट चाहनवाले को हर्ष, स्वर्ण-घट

चाहने वाले को विषाद और मात्र स्वर्ण चाहने वाले को उदासीनता होना स्वाभविक है[456]। इस प्रकार द्रव्य अथवा पदार्थ का मूलतः विनाश नहीं होता। 'विनाश' केवल परिवर्त्तन है। पदार्थ का मूल रूप तो इससे बाद भी बना रहता है। इस प्रकार जगत् के द्रव्यों के छह प्रकार बताए गए हैं– (1) जीव, (2) पुद्गल, (3) आकाश, (4) धर्म, (5) अधर्म और (6) काल। प्रत्येक जीव ज्ञान-सम्पन्न होता है किन्तु आवरण के कारण उसका ज्ञान आच्छन्न रहता है। चैतन्य ही जीव का प्रधान लक्षण है। शरीर से भिन्न होकर भी चैतन्य ही उसका प्रमाण है। पुद्गल उन द्रव्यों के लिए व्यवहृत है, जो प्रचय रूप से शरीर का निष्पादन करते हैं तथा प्रचय के नष्ट होने पर स्वतः भी नष्ट हो जाते हैं। आकाश के लोकाकाश में द्रव्यों की सत्ता तथा अलोकाकाश में अलौकिकता है। धर्म जीव और पुद्गल को गति प्रदान करता तथा सहायता देता है। अधर्म से जीव की स्थिति होती है तथा इसके अभाव में जीवों में निरन्तरता रहती है। वर्तना (स्थिति), परिणाम (पकना), क्रिया, परत्व (ज्येष्ठता) और अपरत्व (कनिष्ठता) की उत्पत्ति काल से ही सम्भव है। किसी पदार्थ के परिवर्तित रूप को देखकर अज्ञान के कारण लोग उसकी उत्पत्ति और विनाश होना समझ लेते हैं, किन्तु वास्तविक रूप में उसका मूल रूप तद्वत् बना रहता है।

एक अन्य दृष्टि से जैन सिद्धांत के अन्तर्गत धर्म के दस लक्षण बताए गए हैं: उत्तम क्षमा,उत्तम मार्दव (मुलायमियत) उत्तम आर्जव (सीधापन), उत्तम शौच (पवित्रता), उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य।

जैन धर्म में अधिक आराम और सुखी जीवन बिताने को अनुचित बताया गया है। अतः जैन सिद्धांत बाईस परिवह (कड़ाई) को सहन करने के लिए निर्देश देता है– क्षुत् (भूख), पिपासा (प्यास), शीत (सर्दी), उष्ण (गर्मी), दंशमशक (मच्छरों का काटना), नाग्न्य (नंगापन), अरति (दूषित वातावरण), स्त्री (यौन संताप), चर्या (थकावट), निषद्या (एक स्थल पर बैठे रहना), शैया (कठोर भूमि पर शयन करना), आग्रोश (क्रुद्ध वचन सहना), वध (पिटना), याचना (माँगना), अलाभ (कुछ भी न मिलना), रोग (बीमारी), तृणस्पर्श (काँटे चुभना), मल (गंदगी), सत्कार पुरस्कार (अपमान), प्रज्ञा (गुणों का अनादर), अज्ञान (मूर्खता) और अदर्शन (सिद्धांत के प्रति अविश्वास)।

जैन सिद्धांत इस पर भी विचार करता है कि जीव में अजीव का प्रवेश(आस्त्रव) अवरुद्ध करना है तथा जो प्रवेश हो चुका है उसे निकालना है। पहली क्रिया को संवर कहा गया और दूसरी को निर्जरा। इन दोनों क्रियाओं का फल 'मोक्ष' है। कर्म के माध्यम से ही 'मोक्ष' सम्भव है। अतः जैन सिद्धान्त कुशल कर्म को ही प्रोत्साहित करता है तथा अकुशल कर्म को ही निषिद्ध मानता है। ऐसी स्थिति में 'सम्वर और निर्जरा' की क्रियाओं का सम्बन्ध अकुशल कर्म से है। जीव को जिस कर्म के 'आस्त्रव' और बन्ध से मुक्त करना है वह अकुशल कर्म है। इस प्रकार मनुष्य को अकुशल कर्म से बचाना है और कुशल कर्म का अनुपालन करना है।

जैन धर्म में सम्यक् चारित्र्य के अन्तर्गत परिव्राजकों अथवा तापसों के लिए अहिंसा,

---

456. आप्तामीमांसा,1.59, घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पाद-स्थितिष्वयम् ।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥

सत्य-भाषण, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह नामक पंच महाव्रत की व्यवस्था की गई है– (1) अहिंसा का पालन जिसके अन्तर्गत पाँच समितियों का निर्देश किया गया, 1. ईर्या समिति, ऐसे मार्ग से चलना जहाँ छोटे कीड़े-मकोड़े भी न कुचले जा सकें; 2. एषणा समिति, भोजन में किसी प्रकार भी छोटे कीड़ों की हिंसा न हो सके; 3. भाषा समिति, कटु भाषा बोलकर किसी को हिंसा वा क्लेश न पहुँचाना; 4. व्युत्सर्ग समिति, मल-मूत्र ऐसे स्थान पर त्याग करना जहाँ कीटाणुओं की हिंसा न हो; तथा 5. आदान-अपेक्षा समिति, अपने सामानों का उपयोग करते समय भिक्षु द्वारा जीवाणुओं की हिंसा न होने देना। (2) सत्य-भाषण के अन्तर्गत सर्वदा सत्य बोलने का निर्देश किया गया है: 1. अनुविमभाषी, सोच-विचारकर बोलना; 2. लोभ-परिजानाति, लोभ होने पर चुप रहना; 3. कोहं परिजानाति, क्रोध होने पर मौन रखना; 4. हासं परिजानाति, हास्य में भी असत्य न बोलना तथा 5. भयं परिजानाति, भय होने पर भी असत्य न बोलना। (3) अस्तेय (चोरी न करना), बिना किसी की स्वीकृति के किसी की कोई वस्तु नहीं लेनी चाहिए: 1. बिना अनुमति के किसी के घर में प्रवेश नहीं करना चाहिए: 2. बिना गुरू की आज्ञा के भिक्षा में प्राप्त भोजन को ग्रहण नहीं करना चाहिए; 3. आज्ञा प्राप्त होने पर ही किसी के घर में निवास करना चाहिए: 4. किसी के घर रहते हुए उसकी अनुमति के बिना कोई भी वस्तु उपयोग में नहीं लानी चाहिए तथा 5. किसी के घर में रहते हुए भिक्षु को उस गृहपति की स्वीकृति के बिना उस घर में निवास नहीं करना चाहिए। (4) ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत भिक्षु के लिए कई निर्देश दिए गए हैं: 1. वह किसी स्त्री से संभाषण न करे; 2. किसी स्त्री को न देखे; 3. नारी-सम्पर्क की भावना मन में न लाये; 4. शुद्ध और थोड़ा खाना खाये तथा 5. अकेली रहनेवाली स्त्री के घर न जाय। (5) अपरिग्रह व्रत के अनुसार धन न इकट्ठा करना चाहिए, क्योंकि उससे मोह ओर आसक्ति का उदय होता है।

गृहस्थों के लिए पंचमहाव्रत 'अक्षणुव्रत' के रूप में व्यवहृत हुआ है क्योंकि संसार में रहते हुए इन महाव्रतों का पूर्णतः पालन करना सम्भव नहीं इसलिए आंशिक रूप से इनके पालन के लिए कहा गया– (1) अहिंसाणुव्रत, (2) सत्याणुव्रत, (3) अस्तेयाणुव्रत (4) ब्रह्मचर्याणुव्रत और (5) अपरिग्रहाणुव्रत।

अणुव्रत के पालन में चार आधार दर्शित किए गए: (1) मैत्री (सबके साथ मित्रता का भाव रखना), (2) प्रमोद (दूसरों की प्रगति से प्रसन्न होना), (3) कारूण्य (दुःखियों के प्रति दया रखना) और (4) माध्यस्थ (दुष्ट व्यक्तियों की बातों पर ध्यान न देना)। पंचमहाव्रत और अणुव्रत में मांस, मदिरा और शहद पर प्रतिबंध लगाकर आठ मूल गुण निर्देशित किए गए।

पचंमहाव्रत अथवा अणुव्रत के साथ-साथ आचरण के लिए सात 'शीलवत' वांछनीय माना गया। शीलव्रतों के दो विभाग किए गए: (1) गुणव्रत और (2) शिक्षाव्रत। गुणव्रत तीन प्रकार के बताए गए– (क) दिग्व्रत (किन्हीं विशेष दिशाओं में अपनी क्रिया सीमित रखना), (ख) देशव्रत (किन्हीं विशेष क्षेत्रों में अपना कार्य सीमित रखना) और (ग) अनर्थदंडव्रत (अकारण अपराध न करना) शिक्षाव्रत के चार प्रकार हुए: (क) सामयिक (समय के कुछ भाग को अपने ऊपर विचार के लिए रखना), (ख) प्रोषधोपवास (महीने में चार दिन, दोनों

अष्टमियों और चतुर्दशियों को उपवास रखना, (ग) उपभोग-प्रतिभोग-परिणाम (वस्तुओं के दैनिक उपभोग को नियमित करना) तथा (घ) अतिथि-संविभाग (दूसरों–साधुओं और उपासकों–को भोजन कराने के बाद भोजन करना)।

जैन धर्म में शरीर को कष्ट और क्लेश देकर साधना का कार्य दर्शित किया गया है। तपश्चर्या, व्रत, अनशन, उपासना आदि का पालन परिव्राजक के लिए वांछनीय है। वर्धमान महावीर ने स्वयं अपने शरीर को कठिन तपत्या से तपाया था इसलिए वे दुर्लभ सिद्धि अर्जित कर सके। इसके साथ ही महावीर स्वामी निर्वस्त्र और नग्नता के समर्थक थे। भिक्षु के समभाव को ध्यान में रखकर उन्होंने आसक्ति, लज्जा आदि से उसे ऊपर माना तथा अपने अनुयायियों को इसका अनुगमन करने का निर्देश किया।

जैन धर्म का आचार तत्त्व मन और काया-शुद्धि पर विशेश बल देना है। इसीलिए ब्राह्मणधर्म के यज्ञ और कर्मकाण्ड का इस धर्म में विरोध है। बाह्य शुद्धि के स्थान पर अंतः शुद्धि पर अधिक बल दिया गया है तथा सच्चरित्रता और सदाचरण उसके प्रधान आधार माने गये हैं। कर्म को महत्ता प्रदान करते हुए कर्महीन जन्मना ब्राह्मण को निन्द्य और निम्न स्वीकार किया गया है। कर्म से ही कोई ऊँचा और नीचा होता है। सत्कर्म का पालन करनेवाला व्यक्ति ही उच्च है चाहे वह जन्म से निम्नतम वर्ग का ही क्यों न हो। सत्कर्म के लिए इन अठारह पापों से मुक्त होना आवश्यक है– (1) प्राणातिपात (हिंसा), (2) झूठ, (3) चोरी, (4) मैथुन, (5) द्रव्यमूर्च्छा, (परिग्रह) (6) ग्रोध, (7) मान, (8) माया, (9) लोभ, (10) राग, (11) द्वेप, (12) कलह, (13) दोषारोपण, (14) चुगली, (15) असंयम में रति और संयम में अरति, (16) पर-परिवाद (निन्दा), (17) माया-मृषा (कपटपूर्ण मिथ्या) तथा (18) मिथ्यादर्शन रूपी शल्य। इन पापों से मुक्त होने पर जीव सम भाव में आता तथा निर्वाण-मार्ग की ओर अग्रसर होता है।

जैन धर्म का चरम लक्ष्य निर्वाण है। यह सत्कर्म और सन्मार्ग से ही सम्भव है। भौतिक तत्त्वों के विनाश और कर्मफल से मुक्ति ही जीव को निर्वाण की ओर प्रेरित करती है। निर्वाण की प्राप्ति अत्यन्त कठिन है, क्योंकि बिना निवृत्ति के सत्कर्म का अनुपालन नहीं हो सकता और बिना सत्कर्म के जीव को पूर्व-कर्म-फल से मुक्ति नहीं मिल सकती। सत्कर्म ज्ञान से होता है। अतः ज्ञान की उपलब्धि कैवल्य-प्राप्ति है, जो निर्वाण-मार्ग की प्रधान प्रेरक है।

महावीर स्वामी के जीवन-काल में जैन संघ की स्थापना हो चुकी थी, जिसके सदस्य चार श्रेणियों में विभाजित थे– (1) भिक्षु, (2) भिक्षुणी, (3) श्रावक और (4) श्रावकी। प्रथम दो वर्ग संसार त्याग करने वाले परिव्राजकों के थे और अन्तिम दो वर्ग गृहस्थों के। वर्धमान महावीर के अनुसार मनुष्यों के तीन प्रकार हैं– (1) अव्रती, जो सांसारिक मोह-माया में लिप्त रहते हैं तथा उससे विलग होने का उनका मन नहीं होता, (2) अणुव्रती, जो आंशिक रूप से हिंसा आदि दुष्कर्मों से अलग रहते हैं, तथा (3) सर्वव्रती, जो पूर्णतः अनासक्त भाव से रहते हुए सच्चरित्रता और सत्यकर्म का अनुपालन करते हैं।

जैन संघ में रहनेवाले श्रमणों के लिए पंचमहाव्रत (अहिंसा, सुनृत, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) का अनुपालन करना आवश्क था। वे वर्षा ऋतु के अतिरिक्त सभी ऋतुओं में सर्वदा भ्रमण किया करते थे। भिक्षा के माध्यम से वे अपना जीवन-यापन करते थे। मन, वचन और कर्म से अपना आचरण शुद्ध रखते थे। इन्द्रिय-सुख का परित्याग करते थे। उनके भ्रमण में वन, पर्वत तथा निर्जन स्थल असुरक्षित थे। चोरों-डकैतों के कारण श्रमणों का ऐसे स्थानों पर जाना उनके लिए विपत्ति-पूर्ण था। जैन भिक्षुओं के लिए देवस्थान, सभामंडप, पारिवारिक आवास, उद्यान-गृह आदि में ठहरना अनुचित माना गया, क्योंकि ऐसे स्थानों पर भीड़-भाड़ होती थी, जिससे उनकी एकाग्रता भंग होती थी। उनके लिए चीवर, जूते, दंड और छत्र आवश्यक थे। वे अपने सिर को मुंडित रखते थे। वे नग्न रहते थे या श्वेत वस्त्र धारण करते थे। कभी-कभी उपासकों द्वारा उन्हें वस्त्र प्राप्त होता था। वे अपनी आवश्यकतानुसार अधोवस्त्र, उत्तरीय आदि का प्रयोग करते थे। जाड़े के दिनों में भिक्षुगण कई वस्त्र उपयोग में लाते थे। उन्हें चार वस्त्र रखने की अनुमति दी गई थी। उनके दो वस्त्र तीन-तीन हाथ के होते थे, तीसरा वस्त्र दो हाथ का और चौथा वस्त्र चार हाथ का। इस प्रकार के वस्त्र न कापाय होते थे, न सुगंधित। प्रायः बिना धुले हुए वस्त्र धारण किए जाते थे। कभी-कभी आवश्यकतानुसार उन्हें पानी से फींच लिया जाता था। भिक्षा-पात्र उन्हें उपासक से ही प्राप्त होता था, किन्तु वह अलंकृत और मूल्यवान धातु का नहीं होता था। उनका भिक्षा-पात्र प्रायः कांस्य अथवा मिट्टी का होता था। पात्र के भींग जाने पर उसे पोंछकर सुखाया नही जाता था। इस प्रकार जैन श्रमणों के लिए अनेक नियम थे, जिनका अनुपालन आवश्यक था।

भिक्षु प्रायः साधु और शुद्ध प्रकृति के होते थे तथा अनुशासन, त्याग, सुनृत और अनासक्त जीवन का पालन करते थे। 'आचारांगसूत्र' में उनके लिए कठोर नियम बताए गए हैं। दिगम्बर साधु को 'क्षुल्लक' 'ऐल्लक' और 'निर्ग्रन्थ' कहा जाता था तथा श्वेताम्बर साधु को 'यति' 'साधु' और 'आचार्य'। जिनकल्पी साधु के नियम कठोर होते थे तथा 'स्थविरकल्पी' साधु के अपेक्षाकृत कम कठोर। ऐसे साधु भिक्षावृत्ति पर अपना पोषण करते तथा धन-सम्पत्ति से दूर रहते थे। सुगंधित द्रव्य, जूते आदि का प्रयोग वे नहीं करते थे। अठारह कर्मों से उन्हें दूर रहने का निर्देश दिया गया था: (1) हिंसा, (2) असत्य भाषण, (3) सम्भोग, (4) चोरी, (5) रात्रि में भोजन, (6) सम्पत्ति, (7) जल-शरीरी-जीव-पीडन, (8) क्षिति-शरीरी-जीव-पीडन, (9) अग्नि-शरीरी-जीव-पीडन, (10) वानस्पति जीव-पीडन, (11) वायु-शरीरी-जीव-पीडन, (12) गृहस्थ-पात्र में भोजन, (13) जंगम जीव-पीडन, (14) वर्जित वस्तु, (15) बिस्तर, तकिये आदि का उपयोग, (16) चारपाई, कुर्सी आदि का प्रयोग, (17) अलंकण और (18) स्नान। इन बाह्य आचारों के अतिरिक्त उन्हें अंतःआचार का अनुपालन करने के लिए निर्दिष्ट किया गया। मन, वचन और कर्म से शुद्ध रहना उनके लिए परम आवश्यक था। वस्तुतः जाति-भेद से अलग रहनेवाले व्यक्ति कर्म के ही आधार पर भिक्षु-संघ में दीक्षित होते और अनुशासित तथा संयमित जीवन व्यतीत करते थे।

श्वेताम्बर और दिगम्बर

जैन धर्म महावीर स्वामी के पश्चात् कई विभागों और आम्नायों में विभाजित हो गया। इनमें श्वेताम्बर और दिगम्बर प्रधान हैं। श्वेताम्बर वे थे जो सफेद वस्त्र पहनते थे तथा दिगम्बर वे थे जो निर्वस्त्र (नंगे) रहते थे। वर्धमान महावीर ने घर छोड़ने के तेरह महीने बाद वस्त्र त्याग दिया था तथा यह अनुभव किया था कि वस्त्रों का भी बंधन न हो। तभी से नग्न रहने का आचार जैन धर्म में प्रचलित हुआ। उत्तराध्ययन सूत्र, स्थानांग सूत्र और आचारांग सूत्र में वस्त्र धारण करने का स्पष्ट उल्लेख है। यद्यपि उत्तराध्ययन सूत्र (23.32-33) में पार्श्व के अनुयायी केशी और महावीर के अनुयायी गौतम के बीच हुए संभाषण का उल्लेख है जिसमें गौतम का कथन है कि मोक्ष के वास्तविक साधन तो सदाचार, श्रद्धा और ज्ञान हैं, वस्त्रों का धारण करना आदि बाह्य उपचार तो आध्यात्मिक उत्कर्ष की सुविधा के लिए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में इसके प्रति कोई विशेष आबद्धता नहीं थी। वैसे, नग्न रहने की स्थिति जैन सिद्धांत में उच्चतम आदर्श के रूप में थी। मथुरा से प्राप्त दूसरी सदी ईस्वी की जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ भी नग्न हैं। बराहमिहिर (छठी सदी) ने केवल दिगम्बर मूर्तियों का ही विवरण दिया है। गुप्त-काल तक आकर श्वेताम्बर मूर्तियों का भी पूजन प्रारंभ हो गया था। सौराष्ट्र के वला (वलभी) से प्राप्त काँसे की जैन तीर्थंकर की मूर्तियाँ धोती पहने दर्शित की गई हैं। बड़ौदा के निकट अकोटा से प्राप्त ऋषभनाथ की भग्न मूर्ति गुप्त-शैली की धोती पहने है। संभवतः गुप्त-काल से वस्त्र धारण किये हुए तीर्थंकरों की मूर्तियाँ गढ़ी गईं, जो उनके साम्प्रदायिक भेद-भाव को व्यक्त करती हैं।

दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायियों की यह मान्यता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल में मगध में अत्यन्त भीषण दुर्भिक्ष पड़ा। फलस्वरूप वहाँ रहनेवाले जैन-संघ के भद्रबाहु श्रुतकेवली अपने अनुयायियों को लेकर दक्षिण चले। जैन-संघ का यह भाग दक्षिण मैसूर के पुण्णाट प्रदेश में बस गया। जब मगध का अकाल समाप्त हो गया तब भद्रबाहु अपने अनुयायियों के साथ पुनः यहाँ लौट आए। किन्तु जैन-संघ के नियम को लेकर भद्रबाहु और स्थूलभद्र के बीच मतवैभिन्य हो गया। स्थूलभद्र अकाल के समय मगध में ही रहे और उनके अनुयायी भी वहीं थे। उन्होंने अपने अनुयायियों को सफेद वस्त्र धारण करने के लिए निर्देश दिया। किंतु भद्रबाहु ने निर्वस्त्र रहने के लिए अपने अनुगामियों को शिक्षा दी। इस प्रकार जैन-संघ में दो सम्प्रदाय विकसित हो गए, एक श्वेताम्बर और दूसरे दिगम्बर।

श्वेताम्बर और दिगम्बर में कई अन्तर हैं: (1) श्वेताम्बर वस्त्र पहनते हैं तथा इसे मोक्षप्राप्ति में बंधन नहीं मानते किंतु दिगम्बर नग्न रहते हैं तथा वस्त्र को भी मोक्ष-प्राप्ति में बाधक मानते हैं (2) श्वेताम्बर सम्प्रदाय के लोग स्त्रियों को इसी जीवन में निर्वाण की अधिकारिणी मानते हैं, किंतु दिगम्बर इसका विरोध करते हैं, (3) श्वेताम्बर अनुयायियों का यह विश्वास है कि केवल ज्ञान की प्राप्ति के बाद भी व्यक्ति को भोजन की आवश्यकता

पड़ती है, किन्तु दिगम्बरों का यह विचार है कि वह उपवास कर सकता है, (4) श्वेताम्बरों का यह मत है कि महावीर ने यशोदा से विवाह किया था तथा उनको सन्तान भी थी, किन्तु दिगम्बरों का यह विचार है कि महावीर ने विवाह नहीं किया था, (5) श्वेताम्बर अनुयायियों का यह कथन है कि उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ स्त्री थीं किंतु दिगम्बरों का कहना है कि वे पुरुष थे, (6) श्वेताम्बर सम्प्रदाय के लोग प्राचीन आख्यान को स्वीकार करते हैं, जिनके अनुसार 12 अंग, 12 उपांग, 10 प्रकीर्णक 6 वेदसूत्र, 4 मूलसूत्र और 2 अन्य थे, किन्तु दिगम्बर इन्हें नहीं मानते। इन विरोधों के होते हुए भी दोनों के दार्शनिक आधार एक हैं तथा दोनों सम्प्रदाय उमास्वाती (अथवा उमास्वामी) के 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' में वर्णित सिद्धान्तों को प्रामाणिक मानते हैं। कालान्तर में ये दोनों गण-कुल गच्छ शाखा आदि में विभाजित हो गए।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के उपसम्प्रदाय

बाद में आकर श्वेताम्बर सम्प्रदाय में 3 प्रमुख उपसम्प्रदाय हो गए: (1) पुजेरा या मूर्ति-पूजक या डेरावासी या मन्दिरमार्गी, (2) ढुंढिया अथवा बिस्तोला या स्थानकवासी या साधुमार्गी और (3) तेरापंथी। पुजेरा अनुयायी मूर्तियों को वस्त्राभूषणों से सज्जित करके फल-फूल और नैवेद्य अर्पित करते हैं। स्थानकवासी लोका सम्प्रदाय से निकले हैं, जो मूर्ति-पूजा नहीं करते। इसी सम्प्रदाय से सम्बन्धित स्वामी भिक्खन महाराज ने 1760 ई० में 'तेरापंथी' सम्प्रदाय चलाया। इनके अनुयायी जैन सिद्धान्तों का अनुगमन करते हैं।

दिगम्बर सम्प्रदाय के उपसम्प्रदाय

दिगम्बरों में भी तीन उपसम्प्रदाय बन गए थे: (1) बीसपन्थी, (2) तेरापंथी और (3) तारणपंथी या समैया पंथी। बीसपंथी मत के माननेवाले मन्दिरों में मूर्तियों के अतिरिक्त तीर्थंकरों की तथा क्षेत्रपाल, भैरव आदि की भी मूर्तियाँ पूजन के लिए रखते हैं एवं उन्हें फल-फूल और मिठाई अर्पित करते हैं। तेरापंथी अपने मंदिरों में केवल तीर्थंकरों की मूर्तियाँ रखते हैं। उनके पूजनआराधन में वे फल-फूल और नैवद्य चढ़ाते हैं। इस सम्प्रदाय का उद्भव 1626 ई० में भट्टारकों के अनाचार के कारण हुआ। इनका एक सम्प्रदाय 'तारणपंथी' भी हुआ जिसे पन्द्रहवीं सदी में तरणतारण स्वामी ने चलाया। ये लोग मूर्तियों की पूजा नहीं करते। दिगम्बरों में गुमानपंथी और तोतापंथी सम्प्रदाय भी हैं, जिनका समाज पर बहुत कम प्रभाव है।

जैन धर्म का संकलित साहित्य निम्नलिखित अंगों में है: (1) आयारांगसुत्त (आचारांगसूत्र), (2) सूयगडंग (सूत्रकृतांग), (3) थाणंग (स्थानांग), (4) समवायांग; (5) भगवतीसूत्र (6) नायाधम्मकहाओ (ज्ञाताधर्मकथा), (7) उवासगदसाओ (उपासकदशा), (8) अंतगड़दसाओ (अंतकृद्दशा), (9) अणुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरोपपादिकश), (10) पण्हावागरणिआई (प्रश्नव्याकरणानि), (11) विवागसुयं (विपाकसुतम्) और (12) दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद)। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्यों ने

भी जैन धर्म पर विविध ग्रन्थ लिखे हैं।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनेकानेक आचार्य हुए जिन्होंने अनेक रचनाएँ कीं। भद्रबाहु प्रथम (433-357 ई० पूर्व) 'निर्युक्ति', 'भद्रबाहुसंहिता' आदि ग्रन्थों के लेखक थे। भद्रबाहु द्वितीय (प्रथम सदी) ने न्याय शास्त्र पर ग्रन्थ लिखा था। उमास्वाती (पहली सदी) श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों के श्रद्धेय थे। उनका ग्रन्थ 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' और उसकी टीका जैन धर्मावलम्बियों में बहुत अधिक लोकप्रिय हुई। भद्रबाहु द्वितीय के शिष्य कुन्दकुन्दाचार्य (पहली सदी) लिखित 'समयसार', 'पञ्चास्तिकाय', 'प्रवचनसार', 'नियमसार' आदि ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। वृद्धवादिसूरि के शिष्य सिद्धसेन दिवाकर (छठी सदी) थे जिन्होंने 'सम्मतितर्कसूत्र' 'न्यायावतार' आदि कृतियों की रचना की। सिद्धसेनगणि (600 ई०) ने 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' पर टीका लिखी थी। हरिभद्रसूरि (705-775 ई०) ने संस्कृत और प्राकृत में अनेक ग्रंथ लिखे, जिनमें 'न्यायावतार वृत्ति' , 'न्यायप्रवेशसूत्र', 'षड्दर्शन समुच्चय', 'दशवैकालिकनिर्युक्तिटीका' आदि अधिक ख्यात है। मल्लवादी रचित 'नयचग्र', अभयदेव (1000 ई०) लिखित 'वादमहार्णव', रत्नप्रभसूरि (ग्यारहवीं सदी) कृत 'लघुटीका', देवसूरि (बारहवीं सदी) रचित 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार', हेमचन्द्र (बारहवीं सदी) लिखित 'प्रमाणमीमांसा', 'अन्यनोगव्यदच्छेदिका', 'महावीरचरित्', 'तृषष्ठिशलाापुरुषचरित्' आदि ग्रन्थ जैन धर्मानुयायियों द्वारा अधिक प्रशंसित हुए। मल्लिषेणसूरि (1292 ई० द्वारा 'अन्ययोगव्यवच्छेद' पर लिखित 'स्यादवाद-मञ्जरी' नामक टीका बहुत अधिक ख्यात हुई। मलधारि राजशेखरसूरि (1348 ई०) ने प्रशस्तपादभाष्य' आदि कई ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी थीं।

दिगम्बर सम्प्रदाय के भी अनेक प्रसिद्ध आचार्य हुए, जिन्होंने विभिन्न लोकप्रिय ग्रन्थों की रचनाएँ कीं। उनमें विद्यानन्द, माणिक्यनन्दिन (नवीं सदी), प्रभाचन्द, अमृतचन्द्रसूरि देवसेन भट्टारक, लघुसमन्तभद्र, अनन्तवीर्य (दसवीं सदी), नेमिचन्द्र सिद्धांत-चग्रवर्ती (ग्यारहवीं सदी), ज्ञानंचन्द (चौदहवीं सदी), गुणरत्नसूरि (पन्द्रहवीं सदी), श्रुतसागरगणि, धर्मभूषण (सोलहवीं सदी), यशोविजयगणि (1608-1688 ई०) आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। अलंकदेव ने 'अष्टशती', 'राजवार्तिक', 'न्यायविनिश्चय' आदि कई ग्रंथों की रचनाएँ की थीं। माणिक्यनन्दिन कृत 'परीक्षा मुखसूत्र', प्रभाचन्द्र रचित 'प्रमेय-कमलमार्तण्ड' तथ नेमिचन्द्र लिखित 'गोम्मटसार', 'लब्धिसार', 'द्रव्यसंग्रह' आदि ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं।

जैन धर्म का विकास वर्धमान महावीर के काल में अधिक हुआ, जब तत्कालीन अनेक नरेशों ने इस धर्म के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की। वैशाली का लिच्छवि शासक चेटक महावीर स्वामी का भक्त बन गया था। उसकी आठ रानियों ने भी इस धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा अभिव्यक्त की थी। सिन्धु-सौवीर का अधिपति उदयन भी जैन धर्म का अनुयायी हो गया था। इनके अतिरिक्त अनेक राजवंशों ने इस धर्म के प्रति अपनी रुचि दर्शित की थी। मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य अपने जीवन के अन्तिम काल में जैन साधु भद्रबाहु के प्रभाव से जैन धर्म का अवलम्बी हो गया था तथा अपना राज्य अपने पुत्र बिन्दुसार को सौंपकर दक्षिण मैसूर के श्रवणबेलगोला नामक स्थान पर चला गया था। वहाँ उसने तपश्चर्या करते हुए अपना शरीर-त्याग

किया था। जैन धर्म की प्रथम सभा उसी के काल में हुई थी, जिसे सम्भूत विजय के शिष्य स्थूलभद्र ने आहूत की थी। उसी समय 12 अङ्गों में जैन सिद्धान्तों का संकलन किया गया जो पहले के 18 पूर्वों के स्थान पर ग्रहण किये गये। जैन धर्म के दूसरे संघ भद्रबाहु के अनुयायियों ने इस समिति की कार्रवाइयों को अस्वीकार कर दिया। परिणामस्वरूप जैन धर्म में दो शाखाएँ हो गई, एक महावीर के सिद्धान्तों के अनुसार वस्त्रहीन रहने लगीं और दूसरी उनके सिद्धान्तों से अलग होकर श्वेत वस्त्र धारण करने लगीं। पहली शाखा दिगम्बर कही गई और दूसरी श्वेताम्बर। दूसरी जैन समिति 512 ई० में जैन साधु देवर्धिगणि के सभापतित्त्व में हुई थी। इस समिति में अङ्गों की रचनाओं के संकलन के साथ 84 आगमों की भी संख्या निश्चित हुई तथा बारह 'उपांग' भी संकलित किये गए। सम्राट अशोक के पौत्र सम्प्रति ने आर्य सुहस्ती से जैन धर्म में दीक्षा लेकर उसका प्रसार किया। कलिंग-नरेश खारवेल ने जैन धर्म अपनाकर उदयगिरि पर जैन साधुओं के निवास के लिए एक विशाल भवन का निर्माण करवाया था। उज्जैनाधिपति गर्दभिल्ल (प्रथम सदी) और उसके पुत्र विक्रम ने उज्जैन को जैन धर्म का प्रधान केन्द्र बनाया। इस प्रकार उज्जैन (मध्य भारत) जैन धर्म और शिक्षा का महत्त्वूर्ण पीठ बन गया। इसी प्रकार उत्तर भारत में मथुरा और दक्षिण भारत में मैसूर (श्रवणबेलगोला) जैन धर्म के विख्यात केन्द्र थे। धीरे-धीरे जैन धर्म पश्चिमी और दक्षिणी भारत, महाराष्ट्र, गुजरात, मैसूर आदि प्रदेशों तक में ही सिमट गया। पूर्वमध्ययुग के राष्ट्रकूट, गंग-कदम्ब और चालुक्य वंश के जयसिंह सिद्धराज और कुमारपाल-जैसे शासकों ने इस धर्म का प्रचार किया। चौलुक्य सम्राटों द्वारा श्वेताम्बर सम्प्रदाय का गुजरात आदि प्रदेशों में अधिक प्रचार हुआ। हेमचन्द्र के प्रयास से इस सम्प्रदाय का प्रभाव जनमानस पर पड़ा। इसी प्रकार दक्षिण में दिगम्बर सम्प्रदाय का प्रसार हुआ। जैन साधु और सूरि विद्वानों के कारण भी इस धर्म का यथेष्ट प्रसार हुआ। किन्तु हिन्दू धर्म के पुनर्जागृत होने से जैन धर्म का प्रभाव मन्द पड़ने लगा तथा शनैः शनैः यह धर्म राजस्थान और गुजरात तक ही सीमित रह गया। हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों ने सत्य, अहिंसा, सत्कर्म आदि पर सरल और सुबोध शिक्षा प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया जिससे इस धर्म का महत्त्व कम होने लगा। फलतः जैन गृहस्थ हिन्दू धर्म से भी प्रभावित होता गया और हिन्दू समाज का एक अंग बन गया। इसके अतिरिक्त जैन धर्म में भी उन्हीं अवगुणों और त्रुटियों का प्रवेश हो गया था, जो हिन्दू धर्म में थी। संघ में प्रवेश के समय जाति-भेद और ऊँच-नीच की भावना ने जैन धर्म को शिथिल कर दिया तथा बौद्ध धर्म के प्रसार और उसकी उन्मुक्तता ने उसे और आघात पहुँचाया। कायाक्लेश, कठोर तपश्चर्या, निर्वस्त्रता जैसे सिद्धान्तों ने जैन धर्म के विकास में अवरोध का काम किया। साधारण जनता ऐसे अतिवादी मार्गों से अलग होकर दूसरे धर्मों के प्रति आकर्षित हुई।